प्यार और समानता से बच्चों का सीखना सुगम होता है

ममता सिंह

अगर हम सिर्फ़ अपनी जाति, धर्म, जेंडर, क्षेत्र, भाषा, रूप-रंग, क़द-काठी, इत्यादि पर गर्व कर रहे होते हैं तो यह गर्व दूसरे बहुत सारे लोगों को आहत भी करता है। असल में, यह गर्व बहुधा उन चीज़ों पर होता है जिनके होने में हमारी कोई भूमिका नहीं होती। किसी भी विद्यालय में यदि बच्चों के बीच इस तरह की भेदपरक चीज़ें हैं तब एक स्वस्थ और न्यायसंगत समाज का निर्माण थोड़ा मुश्किल है।

विद्यालय समाज की एक लघु किन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण इकाई है। यानी, हमारा समाज कैसा है, उसके रहवासियों की सोच, उनके जीवन मूल्य, आदर्श कैसे हैं, यह जानना हो तो विद्यालय के आन्तरिक वातावरण का अध्ययन आवश्यक होता है क्योंकि विद्यालय और समाज को जोड़ने वाली कड़ी बच्चे हैं। बच्चे समाज से, परिवार से जो सीखकर, देखकर आते हैं उसका प्रभाव विद्यालय पर पड़ता है, और वह जो कुछ विद्यालय से सीखकर जाते हैं उसका प्रभाव परिवार, समाज पर पड़ता है।

मैं उत्तर प्रदेश के जिस गाँव में रहती हूँ, जहाँ मेरी नौकरी है, वह ठेठ हिन्दी भाषी, सामन्तवादी सोच वाला क्षेत्र है। आमतौर पर, जाति, धर्म, जेंडर, क्षेत्र आदि पर यहाँ के रहवासी गर्व करते हैं। अतः ऐसे समाज से आए हुए शिक्षक और विद्यार्थी भी इसी मानसिकता के साथ विद्यालय आते हैं। एक स्थानीय सवर्ण शिक्षक होने के नाते मैं इस बात को बहुत स्पष्टतौर पर देख सकती हूँ, महसूस कर सकती हूँ, और कह भी सकती हूँ, नहीं तो कई बार लोग इसे इतनी सामान्य बात मानते हैं कि इसपर ध्यान देना भी उचित नहीं समझते।

चित्र 1: कम्प्यूटर स्क्रीन पर जिज्ञासा भरी आँखें

अब बात आती है जाति व्यवस्था की। यहाँ यह स्पष्ट किया जाना ज़रूरी है कि आमतौर पर उत्तर प्रदेश के बेसिक शिक्षा विभाग के विद्यालयों में जाति से ज़्यादा वर्ग प्रभावी है। अर्थात, यहाँ ये तो हो सकता है कि उच्च जाति का बच्चा दाख़िला ले ले, लेकिन उच्च आय वर्ग का बच्चा इन विद्यालयों में पढ़ने नहीं आएगा भले वह निचली (समाज द्वारा निचली समझी जाने वाली) जाति का हो।

ऐसे माहौल में, जब बच्चा किसी दूसरे स्कूल से पाँचवीं तक पढ़कर हमारे यहाँ आता है तो उसे कई दिन नहीं बल्कि कई महीने लग जाते हैं, यह स्वीकार करने में कि उसी गाँव में एक ऐसा भी स्कूल है जहाँ जाति, धर्म, जेंडर का कोई महत्त्व ही नहीं है। एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगी। हमारे गाँव में मुसहर (वनवासी, वनमानुष) अनुसूचित जाति का एक परिवार गाँव से बाहर भीटे (टीला) पर रहता है। उनके परिवार की एक बच्ची ने हमारे स्कूल में दाख़िला लिया। वह उस परिवार की पहली लड़की थी जो पाँचवीं के बाद आगे पढ़ने को राज़ी हुई, नहीं तो कितनी भी कोशिश की जाए उनके परिवार के लड़के-लड़कियाँ आगे पढ़ने नहीं जाते। हमारी कोशिशों से बच्ची ने अप्रैल में दाख़िला ले तो लिया, पर वह सबके साथ एडजस्ट नहीं हो पा रही थी। सबसे पहले तो वह मध्याह्न भोजन के लिए घर से थाली ले आई, क्योंकि इसके पहले के स्कूल में बच्चे स्कूल के बर्तन में खाना नहीं खाते थे। इसके पीछे वजह यह थी कि स्कूल के बर्तन को हर जाति वाले बच्चे इस्तेमाल करते थे, इसलिए हर बच्चा अपना बर्तन ख़ुद लाता था।

हमारा स्कूल कभी बन्द नहीं होता

हमारे स्कूल में ज़्यादातर बच्चे अन्य पिछड़ा वर्ग और अनुसूचित जाति के हैं। उनके लिए जनजाति की बच्ची का स्कूल में होना अलग बात तो थी ही। सबसे बड़ी समस्या थी उस बच्ची को यह भरोसा दिलाना कि इस स्कूल में बच्चे ही नहीं, शिक्षकों

चित्र 2 : सीने पिरोने के काम का आनन्द लेते बच्चे

के भी बर्तन अलग नहीं हैं, और वह बच्ची इस विद्यालय या शिक्षकों से किसी भी तरह कमतर या अलग नहीं है। हम अच्छी बातें आसानी से कह तो लेते हैं, पर उन्हें अमल में लाना बहुत मुश्किल होता है।

कुसुम को हफ़्तों लग गए, नए स्कूल के बदले परिवेश पर यक़ीन करने में। वह थोड़ी ग़ुस्सैल और अड़ियल बच्ची थी। वह छठवीं कक्षा में आ तो गई थी, लेकिन उसे वर्णमाला तक का ज्ञान नहीं था। वह कभी मुस्कुराती नहीं थी। कक्षा में सीट हो या मध्याह्न भोजन की पंक्ति, वह अकेले बैठना पसन्द करती थी, या यथासम्भव किसी लड़की के ही बग़ल में बैठती थी। एक अच्छी बात यह रही कि नया स्कूल उसे कुछ तो अच्छा लगा क्योंकि वो एक दिन भी स्कूल से अनुपस्थित नहीं रही, जबकि पहले उसका स्कूल जाना काफ़ी अनियमित रहता था। ख़ैर, अप्रैल बीता और मई में स्कूल की छुट्टियाँ शुरू हो गईं। यहाँ मैं यह बता दूँ कि चाहे सर्दी की छुट्टियाँ हों या गर्मियों की, मेरा स्कूल कभी बन्द नहीं होता। इसके पीछे दो कारण हैं। पहला कारण है शिक्षकों की कमी। तीन कक्षाओं और दस विषयों के लिए मैं अकेली शिक्षक थी। दूसरी वजह, स्कूल में छुट्टी हो जाने पर बच्चे पढ़ाई से दूर होकर जब घर, रिश्तेदारी, खेत-खलिहान में व्यस्त हो जाते हैं, उन्हें दोबारा स्कूल आने और यहाँ एडजस्ट होने में परेशानी होती है। इसलिए हमारा स्कूल लगातार खुलता है। हाँ, यह ज़रूर है कि स्कूल आना सभी बच्चों के लिए अनिवार्य नहीं है। यह उनकी मर्ज़ी है कि वह छुट्टियों में स्कूल आएँ या न आएँ। ख़ुशी की बात है कि बच्चों को स्कूल आना इतना अच्छा लगता है कि क़रीब अस्सी फ़ीसदी बच्चे छुट्टियों में भी स्कूल आते हैं। हमें उम्मीद नहीं थी कि कुसुम भी छुट्टियों में स्कूल आएगी, पर वह आई।

चूँकि छुट्टियों में मध्याह्न भोजन नहीं बनता तो बच्चे अपने घर से खाना लाते हैं। और फिर एक-एक कौर अपने शिक्षक को खिलाए बिना वह खाते नहीं। इस व्यवस्था से यह भी पता चलता है कि बच्चे घर पर क्या और कैसे खाते हैं। हालाँकि इसमें शिक्षक के लिए थोड़ी परेशानी भी हो जाती है कि पराठा-अचार का एक कौर मुँह में भरा ही होता है कि दूसरा चीनी-रोटी का आ जाता है, बहुत सम्भव है कि तीसरा कौर चावल का हो और चौथा बिस्किट का। सब बच्चे पहले खिलाने के लिए शोर मचाते हैं। लेकिन मैंने देखा, कुसुम चुपचाप अपना खाना लेकर किनारे बैठी है, न उसने किसी को खिलाया न किसी ने उसे। मैं उठकर उसके पास गई और कहा, "कुसुम तुम अकेले खा लोगी। मुझे नहीं खिलाओगी क्या!" उसने अविश्वास से आँखें उठाईं और अवधी में बोली, "तू हमार खाना खाबू?" (तुम मेरा खाना खाओगी?) मैंने कहा, "और क्या भाई! मुझे भूख लगी है खिलाओ न!" उसने दुबारा आँखें उठाईं और बोली, "मैं रात की रोटी-अचार लाई हूँ।" मैंने कहा, "तो क्या हुआ! बहाने न बनाओ, खिलाओ।"

कुसुम के पास शायद टिफ़िन बॉक्स नहीं था। इसीलिए वह काली पॉलिथीन में ही रोटी-अचार लाई थी, और सम्भवत: इसी कारण किसी को खिलाने में हिचक रही थी। मेरे ज़िद करने पर जब उसने पहला कौर मुझे खिलाया तो उसी समय बच्चों के बीच की एक बहुत बड़ी बाधा टूट गई, और वह थी जाति की बाधा। हर नए बच्चे ने इस बात को समझ लिया कि जाति जैसी कोई चीज़ इस स्कूल में नहीं है। अब उस परिवार के चार बच्चे हमारे स्कूल में पढ़ रहे हैं, यह मेरे लिए बहुत ख़ुशी और सुकून की बात है। कुसुम अब सातवीं कक्षा में पहुँच गई है। उसने हिन्दी लिखना-पढ़ना सीख लिया है। एक बार उसने मुझे एक चिट्ठी भी लिखी थी। वह आगे चलकर डॉक्टर बनना चाहती है, और हम सबको यक़ीन है कि ऐसा ज़रूर होगा।

प्यार और समानता : दो जादुई चीज़ें

अपने बाईस वर्षों के अध्यापकीय जीवन के अनुभवों के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि प्यार और समानता दो ऐसी जादुई चीज़ें हैं, जो बच्चों को बिना कुछ कहे ही बहुत कुछ सिखा देती

हैं। लेकिन दुःख की बात है कि ज़्यादातर स्कूलों में होता इसका उलटा है। जो बच्चा पढ़ने में, बोलने में, देखने में अच्छा है उसे ही हर जगह तवज्जो मिलती है, वहीं जो बच्चे ऐसे नहीं होते वह गुमनामी में स्कूल आते हैं और वैसे ही चले जाते हैं। मेरी कोशिश रहती है कि बच्चों के नम्बर, उनकी व्यवहार कुशलता, उनकी पारिवारिक-सामाजिक पृष्ठभूमि मात्र ही उनकी लोकप्रियता, सम्मान, इनाम का मानक न बनें। इसके बजाय, उनकी पढ़ने की यात्रा कहाँ से शुरू हुई और वह इस यात्रा में कैसे यात्री रहे, इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए। कुछ बच्चे पाँचवीं कक्षा तक पाँच वर्षों में कुल सौ दिन भी स्कूल नहीं गए, लेकिन जब से इन्होंने हमारे विद्यालय में दाख़िला लिया है एक दिन भी ग़ैर-हाज़िर नहीं हुए, चाहे उन्होंने 'ककहरा' भी छठवीं कक्षा में आकर ही सीखा। भले ही अभी उनकी यात्रा नम्बरों के मामले में अच्छी न कही जा सके, लेकिन उनकी सीखने की ललक, स्कूल में ठहराव, और सभी बच्चों का साथ मिलकर सीखना ही हमारे लिए सन्तुष्टि का सबब है।

इसी के मद्देनज़र, विद्यालय के वार्षिकोत्सव में हमने उन बच्चों को खण्ड शिक्षा अधिकारी द्वारा पुरस्कृत करवाया जो सामान्यतौर पर नज़रन्दाज़ कर दिए जाते हैं। हमने पुरस्कार के लिए अलग-अलग कैटेगरी बनाईं। जैसे– स्कूल में सबसे ज़्यादा ख़ुश रहने वाला बच्चा, सबसे अच्छी मुस्कुराहट वाला बच्चा, सबकी मदद करने वाला बच्चा, छठवीं कक्षा में वर्णमाला सीखने के बावजूद ऐच्छिक टेस्ट में भाग लेने वाला बच्चा, पुस्तकालय से सबसे ज़्यादा किताबें लेकर पढ़ने वाला बच्चा, सबसे ज़्यादा भाग-दौड़ करने वाला बच्चा, आदि। इससे हुआ यह कि जो बच्चे टॉपर या नृत्य, गायन, भाषण, आदि में प्रवीण नहीं थे, उन्हें भी पुरस्कार मिला। प्यार, प्रोत्साहन और समानता के व्यवहार से उनके हौसले काफ़ी बुलन्द हो गए थे। परिणाम यह हुआ कि उन बच्चों में से एक बच्ची ने कक्षा 9 की सैनिक स्कूल प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण की, और वह राष्ट्रीय मीन्स-कम-मेरिट छात्रवृत्ति परीक्षा (एनएमएमएस) व श्रेष्ठ परीक्षा उत्तीर्ण करके आवासीय विद्यालय में पढ़ाई कर रही है।

हमारे समाज में एक और बड़ी समस्या शारीरिक बनावट, क़द-काठी, वज़न, आदि को लेकर कुण्ठाग्रस्त मानसिकता की है। इसका शिकार भी बच्चियाँ ही अधिक बनती हैं। जिस बच्ची की लम्बाई, वज़न अपनी उम्र की दूसरी बच्चियों से अधिक हो, उसका जीना दूभर कर दिया जाता है। पाँचवीं कक्षा के बाद ही ऐसी बच्चियों को 'सयानी हो गई' कहकर उनके खेलने-कूदने, बाहर निकलने पर रोक लगा दी जाती है। इसमें सबसे बुरी बात यह है कि इसकी शुरुआत घर-परिवार से होते हुए स्कूल तक पहुँच जाती है।

मेरे विद्यालय में ऐसी ही दो बच्चियाँ आईं। इनकी लम्बाई, वज़न अपनी कक्षा के दूसरे लड़के-लड़कियों से अधिक था। इस कारण

> **मेरी कोशिश रहती है कि बच्चों के नम्बर, उनकी व्यवहार कुशलता, उनकी पारिवारिक-सामाजिक पृष्ठभूमि मात्र ही उनकी लोकप्रियता, सम्मान, इनाम का मानक न बनें।**

वे दोनों छठवीं कक्षा में ही वयस्कों की तरह चुप, दबी-सहमी बैठी रहतीं। दोपहर के भोजन के बाद जब सब बच्चे दौड़ते-खेलते तब भी वे दोनों बैठी रहतीं। कक्षा में न तो कोई सवाल करतीं, न जवाब देतीं। बस चुपचाप स्कूल आना और जाना ही उनका काम था। नाम पूछने पर उनका गला सूख जाता, कुछ और पूछने पर उनकी आँखें भर आती थीं। धीरे-धीरे लंच ब्रेक में मेरी टीम ने, जिसमें गाँव के कुछ युवा शामिल हैं, उन दोनों बच्चियों को इंडोर गेम खेलने को दिए, लेकिन वह बैठे-बैठे कैरम, शतरंज की तरफ़ आँख उठाकर तक नहीं देखती थीं, दौड़ने-भागने वाले खेलों की तो बात ही क्या! उन्हें स्कूल आए दो-तीन महीने हो चुके थे, लेकिन हम उन्हें समावेशित करने में अभी भी नाकाम थे।

एक दिन एक अजीब घटना घटी। आमतौर पर, बच्चों के खेलने के दौरान मैं कोई किताब लेकर पढ़ने लगती थी, ताकि बच्चों पर नज़र भी रख सकूँ कि कहीं वह खेलने के दौरान झगड़ा न कर लें, उन्हें चोट न लग जाए, या वह कहीं से न गिर जाएँ। उसी दौरान, ये दोनों बच्चियाँ मेरे पास आईं और मुझसे पूछा, "आप क्या पढ़ रही हैं?" मुझे ख़ुशी और हैरानी, दोनों हुईं उनके बोलने पर। मैंने उन्हें बताया, "यह ग़ज़ल संग्रह है।" उन्होंने मुझसे कोई ग़ज़ल पढ़कर सुनाने का आग्रह किया। मैंने उन्हें पास बिठाकर फ़टाफ़ट दो-तीन ग़ज़लें पढ़कर सुना दीं। अब यह एक रुटीन बन गया। लंच ब्रेक में वे दोनों मेरे पास आ जातीं और मुझसे कविता, ग़ज़ल या जो भी किताब मेरे हाथ में हो उसे पढ़ने का आग्रह करतीं। एक दिन मैंने उनसे कहा, "आज तुम लोग मुझे पढ़कर सुनाओ।" दोनों ने अपना सिर झुकाकर फिर से चुप्पी साध ली। कई दिनों के साहचर्य के दौरान मुझे पता चल गया था कि उनकी रुचि कविताओं में है, बस गहरे हीनता बोध और संकोच के चलते वे बोलती नहीं हैं। ख़ैर, उस दिन तो नहीं, लेकिन अगले दिन से, पहले एक कविता, फिर दो-तीन कविताएँ सुनाने का जो सफ़र शुरू हुआ वह आज इस मुक़ाम पर है कि उन दोनों से अच्छा कविता वाचन कोई और नहीं कर पाता। कक्षा में केवल पढ़ने, लिखने, बोलने में तेज़तर्रार बच्चों की तरफ़ ही ध्यान दिया जाता है, लेकिन अगर औसत या इससे भी कम पढ़ने, लिखने, बोलने वाले बच्चों पर अलग से ध्यान दिया जाए तो आश्चर्यजनक परिणाम मिलते हैं। अब अपनी कक्षा में बच्चों को पढ़ते-लिखते देखना बहुत सुखद है।

ममता सिंह उत्तर प्रदेश के अमेठी ज़िले के एक पिछड़े गाँव अग्रेसर में बेसिक शिक्षा परिषद द्वारा संचालित जूनियर हाई स्कूल में कार्यरत हैं। स्कूल में नए प्रयोगों को करने के लिए व सावित्री बाई फुले पुस्तकालय बनाने के चलते उनकी पहचान देशभर में बन रही है।

सम्पर्क : mamtathinks@gmail.com